विश्वास

सूरज पालीवाल

विश्वास

सूरज पालीवाल

सूरज पालीवाल

शिक्षा : बी.ए. (ऑनर्स), एम.ए. (हिन्दी), एम.फिल., पी-एच.डी.

प्रकाशित कृतियाँ : टीका प्रधान, जंगल (कहानी-संग्रह); फणीश्वरनाथ रेणु का कथा संसार, रचना का सामाजिक आधार, संवाद की तह में, आलोचना के प्रसंग, मैला आँचल : एक विमर्श, साहित्य और इतिहास-दृष्टि, महाभोज का महत्व, समकालीन हिन्दी उपन्यास, हिन्दी में भूमंडलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध, इक्कीसवीं शताब्दी का पहला दशक और हिन्दी कहानी (आलोचना); स्वाधीन भारत के हिन्दी उपन्यासों में जातीय उभार के सामाजिक-राजनीतिक कारण (वृहत शोध परियोजना)।

हिन्दी की जानी-मानी पत्रिकाओं में 90 से अधिक आलेख प्रकाशित।

सम्पादन : एक दशक तक चर्चित कथा पत्रिका 'वर्तमान साहित्य' के सम्पादक मण्डल में तथा अब 'इरावती' पत्रिका के प्रधान सम्पादक।

पुरस्कार : डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना सम्मान, पंजाबी कला एवं साहित्य अकादमी पुरस्कार, डॉ. अम्बेडकर फैलोशिप, प्रेमचन्द पुरस्कार।

विदेश यात्रा : 'उभरते हुए नये आर्थिक परिदृश्य में उच्च शिक्षा की चुनौतियाँ' विषय पर अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी, दिनांक 4-6 नवम्बर, 2010 पीकिंग यूनिवर्सिटी (चीन) में सहभागिता।

सम्प्रति : अध्यक्ष एवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विवविद्यालय, गाँधी हिल्स, वर्धा-442005

मोबाइल : 09421101128

अपने दौर के समर्थ कथाकार सूरज पालीवाल के इस संग्रह की कहानियाँ इंसान के अच्छे और बुरे पक्षों को प्रकाशित करके अंतत: मानवीय मूल्यों की पक्षधर हो जाती हैं। कहानियों के संदर्भ में वरिष्ठ कथाकार संजीव का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है- "सूरज पालीवाल की कहानियों की पृष्ठभूमि ब्रज और उसके आसपास की ग्रामीण और कस्बाई स्थितियाँ हैं, गरीबी है, भुखमरी है, गाँवों में पनपती गुंडई है, ग्रामप्रधानी के चुनाव हैं, जातिवादी जकड़न में जकड़ी शक्तियों के वर्चस्व की लड़ाई-टकराहटें, पैंतरे और समीकरण हैं...

...सूरज पालीवाल की कहानियाँ ग्राम सभा, चुनाव प्रशासन जैसे संस्थानों और नैतिक साहस जैसे मूल्यों के निरन्तर कमजोर पड़ते जाने और अन्तत: व्यर्थ होते जाने की दास्तान बयान करती हैं। आज तो शैल्पिक चमत्कारों और खिलंदड़ी भाषा से कथ्य की कमी को ढकने की नीम चालाकियों का दौर है, मगर कभी कथ्य अपने आप में ही इतना मजबूत, मार्मिक और बेधक हुआ करता था कि उसे किसी अतिरिक्त या सायास साज-सज्जा की जरूरत नहीं होती थीं।...

...सूरज पालीवाल की तीन दौरों की कहानियाँ इस संग्रह में शामिल हैं-पहली, गाँव की कहानियाँ, दूसरी शहर की होकर भी अजनबीपन की कहानियाँ, तीसरी, आरोपित, कृत्रिमता से मुक्त होने और अपनी जड़ों की ओर लौटने का अभिक्रम करती कहानियाँ। अन्तिम दौर तक आते-आते उत्तर आधुनिकतावाद, अस्तित्ववाद और दूसरे पश्चिमी कथा आन्दोलनों की प्रभावछायाएँ भी दिखने लगती हैं। ग्लोबलाइजेशन तब तक आया न था, मगर उसके शिकारी कदमों की आहट तो इन कहानियों में सुनी जा सकती है। संख्या के लिहाज से बहुत कम कहानियाँ हैं कुल जमा अट्ठाइस !"

ये कहानियाँ देर तक और दूर तक पाठक का साथ देंगी इसीलिए ये कहानी संग्रह विशेष रूप से संग्रहणीय है।

विश्वास

घर के बाहर हल्की-सी भीड़ में बब्बू बैठा था। कितना कमजोर हो गया है। पहली बार इतना उदास देखा। हरदम खिलता-सा चेहरा लिये बब्बू घर भर की रौनक था। दादा कैसे इतराते से कहते बब्बू तो एकदम राजकुमार है-राजकुमार। कहकर भारी आँखों से उसे देखते, बब्बू शैतानी करता रहता। दादा माथे पर गहरा चुम्बन जड़ देते। दादा की आँखों में न जाने कितने इन्द्रधनुष बनते चले जाते।

सारे रास्ते मेरे दिमाग में दादा का एक-एक चित्र उभर-उभरकर आता रहा। जैसे ही एक छोटा-सा तार मिला, मैं पढ़े बिना ही घबरा-सा गया। गाँव के संस्कारों ने भी पीछा नहीं छोड़ा था। तार पाते ही जैसे गाँव को साँप सूँध जाता है, यही स्थिति मेरी हो गई थी। काँपते हाथों और धड़कते दिल से मैंने तार खोला और पढ़ा तो एकबारगी यह लगा कि मैं गिर पडूँगा। धरती जैसे लट्टू की तरह घूम गई। पास पड़ी कुर्सी पर मैं धम्म से गिर पड़ा। बहुत देर बाद मुझे होश आया, कुछ चैतन्य हुआ। "दादा मर गए।" पढ़ा। नीचे नाम बब्बू का था।

रह-रहकर दादा का कमजोर पड़ता शरीर और बब्बू की बेकारी के दृश्य मेरी आँखों में तैर रहे थे। अभी कुछ दिन पहले दीपावली पर बब्बू की नौकरी के लिए दादा ने क्या-क्या नहीं कहा था ? पीले पड़े चेहरे पर चिन्ताएँ अपना जाल और गहरा गई थीं। मैं चाहकर भी दादा को आश्वस्त नहीं कर सका था। दादा शायद हमारी स्थिति नहीं जानते। वे मानते हैं जो आदमी शहर चला गया वह बड़ा आदमी हो गया। बेरोजगारों की लम्बी भीड़ और नौकरी के लिए खुले रूप में चल रहे चाँदी के जूतों की बातें उनसे छिपी हुई नहीं थीं पर उनके लिए तो यह बेकार की बात थी। क्या था पास में जिसे बेचकर कुछ देते, मैं चुप रह गया था। मुझे मालूम था दादा जैसे लोग अपने लोहे के मन पर सब कुछ झेल लेते हैं, सब कुछ सह लेते हैं। न सहें तो करें भी क्या, एक दिन का खेल तो है नहीं। वे कहा करते थे कि जिन्दगी गुड्डे-गुड़िया का खेल नहीं है, जिन्दगी साँप को नचाने की तरह है, जहाँ जरा चूके नहीं कि जिन्दगी खत्म।

पर दादा एक दिन चूक ही गए। कितना सधकर चले, कितना काम किया। सारा शरीर ही जैसे झोंक दिया। फिर भी मिला क्या, असाध्य बीमारी, कर्ज और दिन रोज के ताने। दादा ने एक-एक कर सब कुछ सहा ही नहीं,